हमारी बौद्धिक परम्पराएँ और उनका भविष्य

संस्कृति या सभ्यता का प्रारम्भ कैसे होता है। इस बारे में ये विचार यहां प्रस्तुत हैं। पहले तो यह ढूँढ़ना पड़ेगा कि मर्ज़ क्या है, बीमारी क्या है और हम किस चीज की तलाश में हैं, क्या चीज़ खो गई है और खोई क्यों है? और अगर खो गई है तो कैसे? उसके मूल में अनेक बातें कही जा सकती हैं लेकिन मैं दो बातें ही आपके सामने रखना चाहता हूँ।

आज हमारे देश में जितने पढ़ने-लिखने वाले लोग हैं, उनमें एक ऐसा विभाजन-सा हुआ है, जिसके बारे में हमें पता ही नहीं कि कोई विभाजन भी हुआ है। जब कोई चीज़ इतनी व्यापक हो जाए कि जिसके बारे में पता ही न चले, तो वह हमारे संस्कारों को नियमित करती है, वह हमारी दृष्टि को नियमित करती है। एक हल्की-सी तस्वीर उभारना चाहता हूँ कि आखिर हुआ क्या है। पिछले 150 सालों में, 1857 से, यहाँ कई विश्वविद्यालय बने, उन विश्वविद्यालयों के माध्यम से हम लोग पढ़े हैं, बड़े हुए हैं और एक तरह से हम सब लोगों ने उस प्रणाली से हिन्दुस्तान को देखने का एक तरीका पाया है। उस प्रणाली ने एक विभाजन किया है, अंग्रेज़ी पढ़ने वाले लोगों में और जो लोग ऐसा कहते हैं हम हिन्दी में या प्रान्तीय भाषाओं में पढ़े हैं, जिनके बारे में आजकल कहा जाता है कि इनका अंग्रेज़ी वालों की परम्परा से कोई फ़र्क नहीं है, क्योंकि जो ढ़ाई हजार सालों से ज़्यादा की पढ़ने-लिखने या पढ़ाने की परम्परा थी, यह उससे अलग हो गई। आप सोचिए कि जिस संस्कृति की हम बात करते हैं और कहते हैं कि बड़ी पुरानी थी, जिस पर गर्व करते हैं, लेकिन वह कैसे चली, कैसे बढ़ी, कैसे रही? यदि मान लें कि तीन हजार साल तक वह रही तो कैसे रही? उस समय तो शिक्षा की परम्परा नहीं थी, फिर क्या परम्परा थी? उस वक्त कोई सवाल नहीं पूछता था कि यह परम्परा प्रासंगिक है या नहीं। उस वक्त कोई ऐसे सवाल नहीं पूछता था कि हमारी परम्परा के मूल स्वर क्या हैं? ऐसे सवाल उठाने की ज़रूरत क्यों महसूस हुई? वह इसलिए हुई क्योंकि मुश्किल से 150 सालों में कई ऐसी बातें हो गईं कि हम सब लोग यह सवाल पूछने लगे। जब तक हम इस बात से अवगत नहीं होंगे, इस बात को वाकई आत्मसात् नहीं करेंगे कि आखिर ऐसा क्या हुआ जिसकी वजह से हम

सब लोग ऐसे सवाल पूछने लगे हैं कि हमारी अस्मिता क्या है? क्यों हम उस अस्मिता की खोज में लगे हुए हैं? हम क्या 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' के लेखक की खोज की जैसी खोज करना चाहते हैं? हम जिस मुल्क में पैदा हुए, जहाँ रहते हैं उसके बारे में पूछते हैं कि यह मुल्क क्या है? आखिर इस सवाल की जड़ में क्या है? मैं आपके सामने 150 साल का इतिहास तो नहीं रख सकता, न मैं उसके काबिल हूँ, लेकिन मैं आपसे कुछ बातें ज़रूर कहना चाहूँगा।

ऐसा हुआ है कि हम अपने मुल्क को उस नजर से देखने लगे हैं, जिस नज़र से बाहर के लोग देखते हैं। हम खुद इस देश में बेगाने हो चुके हैं। जब तक हम यह जानेंगे नहीं, महसूस नहीं करेंगे, तब तक आगे की बात करना मुश्किल है। आप सोचिए कि हमारे सभी विद्वान, बड़े से बड़े लोग किस काम में लगे हुए हैं? मुझे कभी-कभी आश्चर्य होता है कि आज इतने कोष क्यों बन रहे हैं? जिसे देखो वह कोष बनाने में लगा हुआ है या 'मैन्यूस्क्रिप्ट' इकट्ठा करने में लगा हुआ है या 'लाइब्रेरी' बनाने में लगा हुआ है या 'ट्रांसलेशन' करने में लगा हुआ है। गंगानाथ झा बैठकर क्या कर रहे थे? वे शबर भाष्य का अनुवाद कर रहे थे या वात्स्यायन के न्याय सूत्र पर भाष्य का अंग्रेज़ी में अनुवाद कर रहे थे, किसलिए कर रहे थे? जिस मुल्क में वात्स्यायन ने भाष्य लिखा था, सब लोग उसे पढ़ते थे, जानते थे, फिर एकाएक क्या हुआ, ऐसी क्या ज़रूरत महसूस हुई कि उसका अंग्रेज़ी में अनुवाद किया जाए? अगर कोई अंग्रेज़ या बाहर का आदमी ऐसी ज़रूरत समझे तो समझ में आता है कि वह अपने लोगों को उस चीज़ से अवगत कराना चाहता है जो उसके देश में नहीं मिलती, परन्तु हिन्दुस्तान का आदमी अंग्रेज़ी में लिखकर क्या बताना चाहता है, किसे बताना चाहता है?

यदि आप इसे 'रिनैसाँ' कहते हैं तो यह 'रिनैसाँ' नहीं है। राममोहन राय से लेकर अब तक क्या हुआ? हम किसे दिखाना चाहते हैं कि हमारे यहाँ भी कुछ है और अगर हम अपने लिए यह सब कर रहे हैं, तो इसका मतलब यह होगा कि हमारे लोग उस भाषा और परम्परा से अलग हो चुके हैं जो परम्परा पहले उनके प्राण में थी, उनकी बुद्धि में थी, उनके अन्तःस्थल में थी। उसे अब कैसे आत्मसात् करेंगे? इस तरीके से आत्मसात् नहीं हो सकती। हम क्या उससे विलग हो चुके हैं, और विलग हुए हैं तो कैसे हुए हैं? विलग होने का भी एक तरीका है, जो उस पढ़ने और पढ़ाने के तरीके का नतीजा है जिसे हम 150 सालों से करते आए हैं और जिसमें हम सब पले-बढ़े और पढ़े हैं। हमारे यहाँ कितने कोष बने, उनको इस्तेमाल कौन कर रहा है? पहली बात उठाना चाहता हूँ वह यह है कि परम्परा इस तरीके से आत्मसात् नहीं होती। फिर कैसे होती है? अंग्रेज़ी में दो शब्द हैं एक 'कल्चर' है और दूसरी 'सिविलाइजेशन' है। यदि हिन्दी में कहें तो हम संस्कृति और सभ्यता कह कर भेद करते हैं, लेकिन वास्तव में में वह वैसा भेद नहीं है जो

अंग्रेज़ी में 'कल्चर' और 'सिविलाइजेशन' शब्दों से इंगित किया जाता है। इस भेद को नए रूप में प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

एक प्रकार से संस्कृतियाँ हजारों हैं लेकिन सभ्यताएँ बहुत कम हैं। यदि हम टायन्बी के लिखे इतिहास पर दृष्टि डालें तो बहुत कम, करीब 20-25 सभ्यताओं का पता चलता है जबकि वास्तव में उससे भी कम उनकी संख्या है। यह भेद क्या है? जब प्राणी आत्मचिन्तन करता है तो खुद को विषय-रूप में देखता है। और जब वह खुद को विषय-रूप में देखता है तब उसके सामने हर चीज़, उसका हर क्षेत्र विषय-रूप में प्रस्तुत होता है। आप थोड़ा इस पर विचार कीजिए कि जब वह अपनी आत्म-चेतना के उन विषयों के ज्ञान को शास्त्र रूप देता है तब एक नया भेद उत्पन्न होता है। वह भेद किस प्रकार का है? वह औचित्य भेद है, अच्छे-बुरे का भेद है। शास्त्र एक आत्म-चिन्तन की प्रक्रिया से उत्पन्न होता है। उसमें मनुष्य प्रथम दृष्टि में जो सहज प्रतीत होता है उसको ही प्रश्न सूचक दृष्टि से देखता है। आप भाषा की बात लीजिए। हर आदमी भाषा बोलता है। ऐसा कोई समाज नहीं है जिसमें भाषा नहीं बोली जाती। लेकिन ऐसे बहुत कम समाज हैं जिनमें भाषा का व्याकरण बनता है, भाषा शास्त्र का रूप लेती है। लेकिन जैसे ही भाषा शास्त्र का रूप लेती है तब एक नई बात उत्पन्न होती है। कुछ ठीक बोलने वाले होते हैं और कुछ गलत बोलने वाले। जैसे ही भाषा का शास्त्र बनता है, संस्कृत और भाषा का भेद उत्पन्न होता है। कहा जाता है कि यह आदमी सुसंस्कृत है क्योंकि यह संस्कारयुक्त भाषा बोलता है। दूसरी ओर जिसने उस तरह से बोलना नहीं सीखा है, वह मामूली आदमी है। देशी और मार्गी का भेद, जिसकी आजकल बहुत चर्चा है वास्तव में शास्त्र से निकलता है। जैसे ही शास्त्र बनता है, वह मार्ग देता है, लोग कहते हैं कि वह शासन करता है, लेकिन वह शासन कैसे करता है? वह शासन ज्ञान से करता है, धन या शक्ति से नहीं। जब ज्ञान शास्त्र का रूप लेता है तब वह समाज में एक नये भेद को उत्पन्न करता है। वह नया भेद सुसंस्कृत और असंस्कृत का है। संस्कृत और असंस्कृत का अर्थ इस संदर्भ में कुछ भिन्न है, क्योंकि वैसे तो मनुष्य होना ही संस्कृति से युक्त होना है, लेकिन जिन संस्कारों की हम बात कर रहे हैं वे संस्कार कुछ अन्य प्रकार के संस्कार हैं।

इन संस्कारों के मूल में बुद्धि है, क्योंकि शास्त्र बुद्धि की रचना होती है। जब पाणिनी शास्त्र बनाते हैं तो वह बुद्धि की रचना होती है जिससे समाज में एक नया भेद उत्पन्न करते हैं। जब भरत नाट्य-शास्त्र बनाते हैं तब वे कुछ ऐसे मानदण्डों का निर्माण करते हैं जिनके आधार पर हम यह कहते हैं कि यह ठीक है, यह गलत है। जब तण्डु नृत्य के बारे में सोचते हैं तो वे एक शास्त्र की रचना करते हैं। इस प्रकार से अनेकानेक शास्त्रों की रचनाएँ होती आई हैं। इस प्रकार की रचना वास्तव में सभ्यता का प्राण है। वह प्राण किस प्रकार का है, उस प्राण के बारे में थोड़ा सोचिए। जैसे ही अनेकानेक शास्त्रों की रचना होती है, तब नई प्रकार की

समस्याओं का जन्म होता है। वे समस्याएँ शुद्ध बौद्धिक होती हैं। यदि शास्त्र नहीं रचा जाता तो वे समस्याएँ भी उत्पन्न नहीं होतीं। शास्त्र की रचना से ही शुद्ध बौद्धिक समस्याएँ जन्म लेती हैं, जिनसे फिर एक स्वतंत्र परम्परा बनती है।

शास्त्र के कुछ आयाम होते हैं—एक आयाम उससे सम्बन्धित है जिस विषय का वह शास्त्र है, जिस विषय के ज्ञान को उसने संगृहीत करके समन्वित रूप दिया है। समन्वित रूप रचने की यह जो चेष्टा है वह अन्य प्रकार की बौद्धिक समस्याओं को जन्म देती है। यास्क को लीजिए, पहले यास्क निरुक्त में अनेकानेक समस्याएँ उठाते हैं। वे कभी कहते हैं कि वाक्य संज्ञा-प्रधान होता है, कभी कहते हैं कि वह क्रिया-प्रधान होता है। यास्क की समस्या क्या है? हम रोज़ जो कुछ बोलते हैं उसे सब लोग समझते हैं? फिर आपने यह क्या समस्या उठा दी कि वाक्य संज्ञा-प्रधान होता है या क्रिया-प्रधान होता है? यदि हम उसे संज्ञा-प्रधान मानते हैं तो उससे अर्थ एक दिशा लेता है और यदि आप क्रिया-प्रधान मानते हैं तो दूसरे प्रकार की। जब मीमांसा-सूत्र जैमिनी द्वारा लिखा गया तो उसमें उन्होंने वाक्य को क्रिया-प्रधान कहा। ऐसे ही बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में वाक्य को संज्ञा-प्रधान माना है। समस्या यह थी कि वाक्य का अर्थ कैसे उत्पन्न होता है? एक और समस्या यह थी कि वाक्य का अर्थ शब्दों के मिलने से उत्पन्न होता है या वह शब्द से भिन्न होता है? वाक्य का कोई एक ही अर्थ होता है या शब्द से या अन्य वाक्यों से मिलकर एक से अधिक भी होता है? अर्थ का आधार कहाँ है? इस तरह की अनेकानेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। वे समस्याएँ तब उत्पन्न नहीं होतीं जब शास्त्र नहीं बनता। मैं यहाँ किन्हीं अन्य शास्त्रों की चर्चा नहीं करूँगा लेकिन कहने की बात सिर्फ यह है कि जैसे ही ज्ञान शास्त्र का रूप लेता है तब शुद्ध बौद्धिक समस्याएँ और एक परम्परा जन्म लेती है। उस परम्परा में लोग पढ़ते हैं, और जो लोग पढ़ाए जाते हैं वे उसमें 'संस्कृत' होते हैं और उन संस्कारों से परम्परा बनती है। वे संस्कार चलते रहते हैं और हर पीढी उन्हें आगे ले जाती है, उनमें परिष्कार करती है, खण्डन-मण्डन करती है और इस तरह परम्पराओं का जन्म होता है।

हम अपने बारे में सोचें तो कैसे सोचें? मान लीजिए अगर कोई ऐसी संस्कृति हो जहाँ संगीत है, नृत्य है, चित्र है, जहाँ दुनिया भर की सब बातें हैं। थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि वहाँ कविता भी है, साहित्य भी है, उपन्यास भी है, लेकिन यदि यह सब होने पर कोई अपने बारे में सोचे तो कैसे सोचेगा। क्या तस्वीर देखकर सोचे, नाच को देखकर या गाने को सुनकर सोचे? यह समझना गलत होगा कि इन सब चीज़ों का कोई अपना महत्त्व नहीं है, उनमें मनुष्य अपने को नहीं देखता। देखता है, किन्तु जब वह देखता है तब उसमें कुछ नया घटित होता है और वह अपने को उसमें परिलक्षित पाता है। अगर हम पूछें कि भाई, आपने क्या समझा? तो क्या वह आसानी से जवाब दे सकता है? थोड़ी देर के लिए इस बात पर सोचिए कि कला की बात करना क्यों मुश्किल है? आप अच्छी

कविता पढ़ लीजिए, फिर आपसे पूछा जाए कि कविता कैसी है, उसके बारे में बताइए तो उसका उत्तर देना तक करीब-करीब असम्भव होगा, जब तक कि उसके बारे में पहले से शास्त्रीय चिन्तन न हुआ हो। बार-बार ऐसा लगता है कि कविता फिर से पढ़ लो, कहानी फिर से पढ़ लो। इसके बारे में बात करके क्या कोई चीज़ पकडी जा रही है? ऐसा लगता है कि कुछ पकड़ा नहीं जाता। वास्तव में उसका जो मूल है, तत्त्व है, रहस्य है, वो भाषा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। यदि आप उसे भाषा में आबद्ध करेंगे तो फिर वह एक काव्य की भाषा हो जाएगी, साहित्य की भाषा हो जाएगी। इसलिए उसे पकड़ने के लिए कोई और भाषा चाहिए। वह भाषा मेरे विचार में दर्शन की भाषा है, वह प्रत्ययों का जगत् है। प्रत्ययों से आप अपने को पकड़ते हैं। यह प्रत्ययात्मक जगत् है जो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में शास्त्र उत्पन्न करता है। उसमें यदि आपकी गति नहीं है, आपकी पकड़ नहीं है तो आप उस परम्परा में उतर ही नहीं सकते, डूब ही नहीं सकते, चलने की बात तो सोची भी नहीं जा सकती।

परम्परा यह कहने से नहीं बनती कि परम्परा होनी चाहिए। यदि गाना सीखना हो तो वह गाकर ही आएगा, अगर चिन्तन करना हो तो चिन्तन करने से ही आएगा। लेकिन चिन्तन करने के लिए आपके पास माध्यम क्या है? वे सब माध्यम पश्चिम के हैं जो आज हमारे पास दिये हुए हैं। वैसे मैं पूर्व और पश्चिम के भेद को मानता नहीं हूँ क्योंकि विचार सार्वभौम होता है। गाना, संगीत और परम्पराएँ हर देश में भिन्न होती हैं, लेकिन अगर हम कहें कि विचारों की परम्पराएँ भी विभिन्न हैं तो अजीब लगता है, क्योंकि आखिर विचार तो सार्वभौम है, वह सत्य की पकड़ करता है और सत्य कभी प्रान्तीय नहीं हो सकता। सत्य किसी संस्कृति से सीमित भी नहीं होता। हम लोग आज जिस परम्परा में पढ़े हुए हैं उसमें जो विचार की प्रणाली हमें मिली है, उसमें हमें ज्ञान की सार्थकता समझ में आती है। लेकिन जिन प्रश्नों की सार्थकता समझ में आती है, वह सार्थकता कहाँ से आती है?

भाषा जैसी दुनिया में कोई दूसरी चीज़ है? यह क्या कोई प्राकृतिक चीज़ है। वह ऐसी चीज है जिसकी अपने आप में कोई सत्ता नहीं है। उसकी सत्ता इस बात में है कि कोई एक या अनेक, किसी दूसरे की ओर, उन्मुख होता या होते हैं। मैं इस बारे में ज़्यादा कहना नहीं चाहता कि यह विचार हमें किस दिशा में ले जाता है, लेकिन यह सोचने की बात है कि जिस संस्कृति में आप हैं उस संस्कृति में पहला चिन्तन भाषा के ऊपर हुआ था। पहला शास्त्र भाषा के ऊपर बना था। शास्त्र पहले शब्द-बोध ढूँढ़ता है कि वह कैसा पदार्थ है, शब्द का अर्थ से सम्बन्ध क्या है? इसी संदर्भ में इसे देखिए। शब्द-बोध की बात यास्क से शुरू होती है और अब तक चल रही है, जबकि आज बीसवीं शताब्दी खत्म होने जा रही है।

गदाधर ने व्युत्पत्तिवाद लिखा है और वे सत्रहवीं शताब्दी में हुए थे, लेकिन आज भी यदि आप उस व्युत्पत्तिवाद किताब का पन्ना पलटें तो आपको उसमें एक अजीब बात मिलेगी। उसमें चिन्तन हो रहा है, एक बात उठाई जा रही है कि राजपुरुष का अर्थ क्या होता है। यह कितनी अजीब बात है? जब मैंने पढ़ा तो मुझे लगा कि इसमें राजपुरुष के अर्थ की चर्चा क्यों की जा रही है? जब बाद में, मैं किसी से बात कर रहा था तो मेरी समझ में आया कि जब संस्कृत भाषा में समास होता है तब अर्थ में अंतर हो जाता है। एक शब्द दूसरे के अर्थ को कैसे पास आकर बदलता है? जब एक शब्द दूसरे शब्द के पास आता है, तब उनमें एक सम्बन्ध स्थापित होता है और उस सम्बन्ध से भाषा में एक नया अर्थ उत्पन्न होता है। संधि और समास के नियम हैं। यह किस प्रकार का समास है, समास क्या है? उसे कैसे समझा जाए, उसे कैसे समझेंगे?

इसी तरह जब अंग्रेज़ी भाषा के दार्शनिक भी कुछ ऐसा कहते हैं कि 'नोलेज' (Knowledge) और 'बिलीफ' (Belief) में यह भेद है कि 'नोलेज' के बारे में जो प्रश्न उठाए जा सकते हैं वे 'बिलीफ' के बारे में नहीं उठाए जा सकते। जो प्रश्न 'प्लेजर' (Pleasure) के बारे में उठाए जा सकते हैं, वे 'पेन' (Pain) के बारे में नहीं उठाए जा सकते। इसी पर हमारे अच्छे लोग इस बात पर गर्व करते हैं कि वे आधुनिक दर्शन को जानते हैं, वे इस पर मोहित हैं, वे इसकी चर्चा करते हैं, इसे अपने यहाँ पढ़ाते हैं। इनमें से जरा एक का शीर्षक देखिए, कैसा अद्भुत है—Three ways of spilling Ink 'थ्री वेज ऑफ स्पिलिंग इंक' ऑस्टन का बड़ा मशहूर निबन्ध है, जिसे पढ़ाया जाता है। मगर वही बात जब संस्कृत के संदर्भ में उठती है तो हमें हँसी आती है। परन्तु उस समय हँसी क्यों नहीं आती? वह इसलिए नहीं आती क्योंकि हम उस परम्परा में पढ़ाए गए हैं। संस्कृत की जो परम्परा है, अपनी भाषा की जो परम्परा है और उनसे जो दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं उनके बारे में हम नहीं सोचते। हमारे सोचने की जो प्रक्रिया है, प्रश्न उठाने की जो परम्परा है, कौन से प्रश्न महत्त्व के हैं और सार्थक हैं और उनकी क्या समस्याएँ हैं, यह सब किसी विचार की परम्परा में नहीं है तो आपके लिए वह समस्या कोई 'समस्या' ही नहीं होगी। आपके लिए वे प्रश्न कोई 'प्रश्न' नहीं होंगे। यदि ऐसा है तो आज जो हो रहा है उसको हमें एक नई दृष्टि से समझना होगा। हमारे विचार की कोटियाँ, हमारे विचार की समस्याएँ, हमारे विचार के केन्द्र बिन्दु हमारी परम्परा से नहीं, बल्कि पश्चिमी परम्परा से आए हुए हैं और उन्हीं के संदर्भ में आज का हमारा सारा विचार अपना ताना-बाना बुनता रहता है। किसी भी क्षेत्र में देखिये तो यही मिलेगा। उदाहरण के लिए समाजशास्त्र की बात लें। जब 'इन्दिरा गाँधी ओपन यूनीवर्सिटी' के समाजशास्त्र का पाठ्यक्रम बनाया गया तो मैंने देखा कि उसके बनाने वालों में, जिनमें हमारा एक बड़ा अच्छा दोस्त भी था, ने कहा कि 'समाजशास्त्र' के पिता वेबर (Weber) हैं। जैसे—हमारे देश में इस

विषय पर कोई चिन्तन ही नहीं हुआ हो। किन्तु हमारे देश में ही नहीं, चीन जैसी पुरानी सभ्यता में भी इस पर चिन्तन कम से कम ढ़ाई हजार साल से चल रहा है, फिर भी हमें ऐसा कहते हुए शर्म नहीं आती कि समाजशास्त्र का मूल वेबर में है, मार्क्स में, काम्ट में है। राज्यशास्त्र के संदर्भ में हम लोग प्लेटो और एरिस्टोटल की बातें करते हैं, लेकिन यह भूल जाते हैं कि राज्यसत्ता के बारे में, राजधर्म के बारे में इस देश में बहुत चिन्तन हुआ है। अन्य देशों में भी हुआ होगा, चीन की परम्परा में तो हुआ ही है। लेकिन हमारे स्कूल, हमारे कॉलेज और हमारे विश्वविद्यालय क्या पढ़ाते हैं? वे पढ़ाते हैं कि शुद्ध बौद्धिक चिन्तन की परम्पराएँ इस देश में नहीं रही हैं। इससे बड़ा भ्रम कोई दूसरा नहीं हो सकता। क्या हम लोग अपने को धोखा दे रहे हैं? वास्तव में जब तक हम इस बात को नकारेंगे नहीं, हम यह नहीं समझेंगे कि इसमें कहाँ मूलभूत दोष हैं, जब तक हम अपने यहाँ के चिन्तन की प्रक्रिया के बारे में जानने की कोशिश नहीं करेंगे तब तक आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

जिस बात की ओर मैं इशारा करना चाहता हूँ, वह यह है कि विचार की अपनी परम्पराएँ इस संस्कृति में मौजूद थीं। लेकिन आज उन्हें हम किस प्रकार से पकड़ें? कैसे जानें? विचार के अनेक आयाम होते हैं। जब ज्ञान किसी भी क्षेत्र में शास्त्र का रूप लेता है तब संस्कृति में एक मूलभूत परिवर्तन आता है। संस्कृति तब ऐसा रूप लेती है जो उसके पहले नहीं था। किस क्षेत्र में पहले शास्त्र बना, यह संस्कृति के वैविध्य को दर्शित करता है। लेकिन इस बात पर हम अधिक विचार नहीं करेंगे। परन्तु जब ज्ञान किसी क्षेत्र में शास्त्र का रूप लेता है तो वह किस प्रकार की समस्याओं को जन्म देता है? सवाल है कि शास्त्र आखिर क्या होता है? शास्त्र विचार की कोटियाँ बनाता है—दो प्रकार की कोटियाँ बनती हैं, प्रथम प्रकार की कोटियाँ वे हैं, जिनके जरिये उस क्षेत्र के बारे में सोचा जाता है। दूसरी कोटियाँ वे हैं जिनके द्वारा प्रथम श्रेणी की कोटियों को एक समन्वित रूप देने की कोशिश की जाती है। ये दूसरी कोटियाँ केवल उस शास्त्र की अपनी कोटियाँ हैं। ये उस विषय की कोटियाँ नहीं है जिनसे वह शास्त्र सम्बन्धित है। और ये उस विषय को नहीं पकड़तीं, बल्कि उस विषय पर होने वाले विचार को पकड़ती हैं। यही शास्त्र होता है।

इसलिए जब शास्त्र बनते हैं तब क्या होता है—शास्त्र पर चिन्तन होता है कि शास्त्र आखिर है क्या? विचार के दो स्तर होते हैं—एक शास्त्र और दूसरा शास्त्र पर शास्त्र का। शास्त्र के विषय और शास्त्र पर चिन्तन की विधाएँ भी अनेक हैं। शास्त्र की प्रक्रिया भी अनेक आयामी होती है और उनकी कोटियाँ भी अलग-अलग होती हैं। बौद्धिक परम्पराओं को पकड़ने की कोशिश, समझने की कोशिश यह है कि वे कोटियाँ हमारे विचार की कोटियाँ बन जायें और उनके द्वारा हम

स्वयं चिन्तन करें। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक आप उनको समझ नहीं सकते। विचारों की कम से कम ढ़ाई हजार साल की परम्परा है।

मैंने पहले भी कहा है और उसे आज यहाँ फिर दोहराने में मुझे कोई शर्म नहीं है कि इस देश की बौद्धिक परम्परा अब भी जीवित है और ऐसे लोग आपके देश में हैं जो केवल संस्कृत को जानने वाले हैं, जो अंग्रेजी नहीं जानते और यह अच्छी बात है। क्योंकि वे उस परम्परा में ही विचार करते हैं, उनके लिए वे ही प्रश्न सार्थक हैं, वे ही समस्याएँ सार्थक हैं, वे ही जीवन्त हैं जो परम्परा के बौद्धिक जीवन से उन्हें प्राप्त हुई हैं। कुछ हम जैसे लोग हैं, हमारे समान लोग हैं जो उसे समझने की चेष्टा करते हैं परन्तु उस समझने की चेष्टा में एक मूलभूत व्यवधान रहता है, और वह व्यवधान यह है कि हम अपनी भारतीय संस्कृति को समझने की चेष्टा में उस 'इंडोलॉजी' की परम्परा से शुरू करते हैं जो पश्चिम में भारत को समझने की चेष्टा में विकसित हुई थी, उसे पश्चिम के विद्वानों ने शुरू किया था। हमारे विद्वान उसकी नकल करते हैं। पर आप सोचिए कि पश्चिम का विद्वान किसी दूसरी संस्कृति को किस प्रकार देखेगा। उसके लिए वह 'विषय' होगी। 'वस्तु' होगी परन्तु वह उसका कभी भी 'प्राण' नहीं होगी। उसका 'प्राण' तो उसकी अपनी संस्कृति है। वह अपनी संस्कृति के संदर्भ में आपकी संस्कृति को देखना चाहता है, समझना चाहता है, पर आश्चर्य की बात तो यह है कि हम भी अपनी संस्कृति को उसी प्रकार से समझने में लगे हुए हैं, जैसे 'वह' समझता है। वह बड़े गर्व से कहता है देखो, तुम्हें यह तरीका नहीं पता है, तुमने 'फिलोलौजी' नहीं पढ़ी है, तुम्हें यह नहीं आता, वह नहीं आता है। पर हम भी वैसा कहते हैं, लिखते हैं और जो वह विधि अपनाता है, उसे स्वीकार करते हैं। पर इतना ही नहीं, हम अपने को भी वैसा ही समझने लगे हैं, जैसा कि वह हमें समझता है।

अगर हम परम्परा को देखें तो विचारों की परम्परा को समझने के दो पक्ष हैं जो यहाँ भी हैं और पश्चिम में भी हैं। प्लेटो ने वास्तव में क्या कहा? वहाँ भी लोग यह सवाल उठाते हैं। यहाँ ऐसी धारणा बन रही है कि मूल ग्रन्थ देखा जाये। जहाँ पाण्डुलिपि मिलती है, उसका सम्पादन (एडिट) किया जाये और प्रकाशित किया जाये। ऐसा लोग करते भी हैं और इसमें कोई गलती नहीं है। लेकिन यह कोई बहुत महत्त्व की बात भी नहीं है। पर मेरी राय में यह पाण्डुलिपियों का खोजना, ग्रन्थों का सम्पादन, मूल ग्रन्थ की खोज आदि अपने में महत्त्व रखते हुए भी विचारों की मूल प्रक्रिया को आगे नहीं बढ़ाते। यह ठीक है कि कुछ लोगों की ऐसा कार्य करने में रुचि और गति दोनों होती है और अगर उन्हें ऐसा करना अच्छा लगता है तो वे उसे ज़रूर करें। इसमें कोई बुराई नहीं है। पर अगर वे समझते हैं कि इससे पारम्परिक विचार में कोई गतिशीलता आएगी तो वे भूल करते हैं। क्योंकि जब तक हमें जो कहा जा रहा है, जिसके बारे में कहा जा रहा है, उस पर विचार नहीं करेंगे तो चिन्तन आगे बढ़ ही नहीं पाएगा। उन्होंने वास्तव में सत्य के बारे में क्या

कहा था? उसकी प्राप्ति कैसे होती है, इस पर यदि हम चिन्तन नहीं करेंगे तो फिर बात कैसे बनेगी? पर स्वतंत्र विचार की यह यात्रा यह पूछने या जानने से प्रारम्भ नहीं होगी कि इस विषय पर शंकर ने क्या कहा था या कुमारिल ने क्या कहा था।

ठीक है, लोग पाण्डुलिपियों पर काम करें। लेकिन हमें यह भी जानने की कोशिश करनी चाहिए कि वे किन समस्याओं से जूझ रहे थे, उनके लिए क्या तार्किक प्रश्न थे, उनके लिए क्या मूलभूत परेशानियाँ थीं जिन्हें जानने के लिए, हल करने के लिए उन्होंने ग्रन्थ लिखे। ग्रन्थ ऐसे ही नहीं लिखे जाते। वे किसी संदर्भ विशेष में लिखे जाते हैं। किन्हीं प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए या किन्हीं समस्याओं को सुलझाने के लिए हमारे यहाँ जो परम्पराएँ हैं, वे इतनी जीवंत हैं कि हर व्यक्ति अपने पूर्वज विचारकों के बारे में लिखता है, कहीं नाम से, कहीं बगैर नाम के, और फिर उनका खण्ड़न करता है, उनका परिष्कार करता है और फिर उन्हें आगे बढ़ाता है। अपने यहाँ भाष्य, वार्तिक, टीका, परिशुद्धि, वृत्ति आदि की परम्पराएँ हैं, जिनके द्वारा विचार सतत् विकसित होता है। इनमें से कुछ का तो लक्षण ही इस प्रकार दिया गया है कि उस पर यदि हम ध्यान दें तो आश्चर्यचकित हुए बगैर नहीं रहा जाएगा। वार्तिक के लक्षण को देखिए, उसके बारे में कहा गया है कि, "उक्तम, अनुक्तम, दुरुक्तम च वार्तिकम्" इसका अर्थ यह है कि वार्तिककार जिस ग्रन्थ पर वार्तिक लिखता है वह उसमें जो कहा गया है, जो नहीं कहा गया है, और जो गलत कहा गया है उस सबके बारे में विस्तार से व्याख्या करता है। आचार्य शंकर ने सुरेश्वर से कहा कि तुम मेरे पर वार्तिक लिखो। यह बात ठीक है, क्योंकि वे अद्वैत परम्परा में वार्तिककार के नाम से प्रसिद्ध हैं। वार्तिक अगर दुरुक्तम है, तो क्यों शंकर अपने शिष्य सुरेश्वर से यह कहते हैं कि इस भाष्य में जो दोष हैं, वे तुम निकालो। अगर ऐसा है तो इससे बड़ी बात क्या हो सकती है कि गुरु शिष्य से ऐसा कहे कि मैंने जो कुछ कहा है, उसमें से दोष निकालो। शंकराचार्य के दो शिष्य हैं—पद्मपाद और सुरेश्वर, और उन दोनों की अलग-अलग परम्परा है, उनकी अलग-अलग सोच है। दोनों अलग तरह से शंकराचार्य को समझने की परम्परा प्रारम्भ करते हैं, जबकि दोनों उनके शिष्य हैं। कहने का आशय सिर्फ इतना ही है कि हमारी जो परम्पराएँ हैं, जो प्रश्न हैं, जो समस्याएँ हैं, जो विचार की कोटियाँ हैं, उसमें जो सुलझाने की विधि है, उसमें जो मानदण्ड हैं, अगर वे हमारे पास नहीं हैं, वे हमारी पकड़ में नहीं हैं तो हम उस परम्परा में कभी प्रवेश नहीं कर सकते। वह हमारे लिए वैसी ही रहेगी जैसी 'इण्डोलौजिस्ट' के लिए रही है।

यहाँ एक और परेशानी है जो उससे भी गहरी है; और वह यह है कि कुछ ऐसा होता है कि जब किसी दूसरी वैचारिक संस्कृति से आप आक्रांत होते हैं या उसकी चकाचौंध से आप थोड़ा चुंधिया जाते हैं तो ऐसे में जो हमारे सामने है वह

भी हमें दिखाई नहीं पड़ता है, दूसरी ओर उसके सामने अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए हम यह भी कहने लगते हैं कि हमारे पास सब कुछ है।

अगर हम 18वीं शताब्दी के बाद से लिखे गए संस्कृत के ग्रन्थों की ओर ध्यान दें, तो पता चलेगा कि वे तो समझते थे कि बहुत कुछ करने को है। पिछले 200 सालों में जितने ग्रन्थ लिखे गए, और अब भी लिखे जा रहे हैं, उनकी संख्या आश्चर्यजनक है। मतलब कि चिन्तन आज भी विचार की परम्परा है। यदि कोई व्यक्ति हमारी संस्कृति में कोई नई चीज़ लिखता है तो उसके 10-15 साल बाद उसका उत्तर दिया जाता है। अंग्रेज़ी में लिखने वालों में अक्सर ऐसा नहीं होता है। अंग्रेजी की परम्परा अभी हमारे यहाँ वास्तव में जीवन्त रूप में नहीं है। हालांकि ऊपर से देखने पर उसका प्रभाव सर्वव्यापी दिखता है, पर जीवन्त होने का लक्षण यह है कि कोई चीज़ अपूर्ण है, किसी में दोष है, उसे पूरा करना है, उसका परिष्कार करना है, उसे नई दिशा में ले जाना है। लेकिन हम अपनी परम्परा से विलग हो गए हैं, न हमें उसकी कोटियों का पता है, न उसकी सत्ता का; न उसके प्रश्न पता हैं, न उसकी विधि। कुछ पता नहीं है लेकिन हम ऐसा मान बैठे हैं कि जो कुछ सोचना था, वह सोचा जा चुका है। यदि, जो कुछ सोचना था वह सोचा जा चुका है तो वास्तव में वह परम्परा समाप्त हो गई, उसकी अब कोई प्रासंगिकता नहीं है। प्रासंगिकता उसी चीज़ की होती है जो मेरे पास आती है और मुझे लगता है कि यह गलत है, या यह अपूर्ण है, या यह बहुत बढ़िया बात है। अब जो बढ़िया बात है, उसे कैसे आगे बढ़ाया जाए? जो अपूर्ण है उसको कैसे पूरा किया जाए? जीवन्त परम्परा यही होती है। हमारे यहाँ ग्रन्थों में सब कुछ लिखा हुआ है। फिर भी क्या हमें उन पर फिर से विचार नहीं करना है कि अपनी जो कोटियाँ हैं, प्रश्न हैं, विचार हैं, समस्याएँ हैं उनकी कोई नई दिशा भी हो सकती है। हम अपनी परम्परा के सम्बन्ध में पूछें कि इसमें अपूर्णता क्या है, इसकी सार्थकता क्या है, इसको कैसे आगे बढ़ाया जाए। जब तक ऐसे सवाल हमारे ही प्राणों का अंग नहीं बनेंगे, वे हमारे लिए विषय-वस्तु ही रहेंगे। किन्तु हमारे यहाँ परिस्थिति कुछ दूसरी हो गई है। हमारे यहाँ यद्यपि आज बहुत लिखा जा रहा है, लेकिन उसमें उस परम्परा को आत्मसात करके, विषयिता के रूप में उसे धारण करके, उससे अनुप्राणित होकर उसे आगे बढ़ाने की बात नहीं है।

आज हम परम्परा के उस पक्ष को बिल्कुल भुला बैठे हैं। जब हम परम्परा की बात करते हैं तो अक्सर लोग यह कहते हैं कि आप ठीक बात नहीं कह रहे हैं। लेकिन "ठीक बात नहीं कह रहे हैं" इस कथन में यह नहीं कहा जा रहा कि फलाने ग्रन्थ के अनुरूप यह है या नहीं है—प्रश्न यह है कि आपसे जब हम ठीक बात की बात करते हैं तो हमारा मतलब केवल इतना है कि बात आपको कैसी लगती है। उदाहरण के लिए आप यज्ञ के विचार को लीजिए—यज्ञ का विचार जो जैमिनी में था, वही गीता में है। पर देखते नहीं हैं कि गीता लिखने वाला क्या कर रहा है?

उसके सत्रहवें और अट्ठारहवें अध्याय में राजसिक, तामसिक और सात्विक का किस प्रकार प्रयोग किया गया है? लेकिन हम लोग उसके प्रयोग का अपने विचार में कोई उपयोग नहीं करते। हम यह भी नहीं सोचते कि यज्ञ, तप, ज्ञान, बुद्धि आदि सब राजसिक, तामसिक व सात्विक हो सकते हैं, जैसा कि गीता में कहा गया है। गीता के अनुसार सात्विक, तामसिक राज्य क्या होंगे? राजसिक समाज क्या है? हम ऐसा नहीं पूछते। हम इन कोटियों में नहीं सोचते क्योंकि हमने सोचना बंद कर दिया है। हम सवाल करना, सोचना भूल गए हैं और केवल दोहराना ही हम जानते हैं। वही पण्डित है, ज्ञानी है जो दोहरा सकता है। पहले के लोग चिन्तन करते थे, सोचते थे। उन्हें नई बात कहने में कोई ड़र नहीं था। आप देखिए कि यहाँ क्या-क्या नहीं कहा गया। यदि उन ग्रन्थों को उठाकर देखें जिनका व्यवहार-शास्त्र या लॉ या राजनीति से सम्बन्ध है, जो समाज से सम्बन्धित हैं। आश्चर्य होगा कि उनमें क्या नहीं कहा गया है। उनमें साफ लिखा हुआ है कि अगर कोई मोक्षकामी हो तो उसे अमात्य नहीं बनाना चाहिए। जो ऐसा कहते थे वे लोग डरते नहीं थे, जबकि सोचने की बात यह है कि हम लोग ड़रते क्यों है? अपने यहाँ ऐसी परम्परा नहीं है कि आप कोई ऐसी नई बात कहें तो उसे सजा दी जाए या मार दिया जाए जैसा कि कुछ अन्य परम्पराओं में मिलता है। कोई नई बात कहना चाहे तो वहाँ उन्हें यह कहने का अधिकार नहीं है। लेकिन अगर हम अपनी परम्परा में ऐसा नहीं कह पाते तो उस परम्परा के प्रति हमारी दृष्टि में कुछ नया दोष उत्पन्न हो गया है। वह दोष यह है कि हम ऐसा मानते हैं कि उसमें कोई भी परिवर्तन करना उसके साथ अन्याय करना होगा। कुछ दोष होगा और वह गलत ही होगा क्योंकि जो कुछ है, वही ठीक है। जैसे उदाहरण के लिए—पुरुषार्थ चार ही हो सकते हैं। यदि कोई कहे कि पाँचवाँ पुरुषार्थ भी है तो साधारणतः लोग उसे गलत ही मानेंगे। हाँ, ऐसा ज़रूर है कि परम्परा में 'भक्ति' को पाँचवाँ पुरुषार्थ माना गया है। कुछ लोगों ने तो केवल उसे ही पुरुषार्थ माना है। कम से कम परम पुरुषार्थ तो स्वीकार किया है लेकिन पाँचवें पुरुषार्थ की बात छोड़ दें और अगर मैं कहूँ कि एक छठा पुरुषार्थ भी है तो आप यह ज़रूर कहेंगे कि मैं कहीं न कहीं कुछ गलती कर रहा हूँ या कोई नया अन्वेषण दे रहा हूँ।

परम्परा में निस्संग बुद्धि की बात होती है। निस्संग बुद्धि वह है जो निर्लिप्त है। निस्संग बुद्धि कुछ उसी प्रकार की होती है जैसा निष्काम कर्म होता है। वह विषय को, वस्तु को देखती है। उसमें पूर्वाग्रह नहीं है। जिधर विचार जाते हैं, वह उधर जाती है। ऐसी बुद्धि का स्वरूप क्या है, इसके बारे में कुछ चर्चा करूँगा।

बुद्धि शास्त्र की रचना करती है। जब शास्त्र रचित होता है तो संस्कृति में मूलभूत परिवर्तन आता है। शास्त्र के दो भेद हैं। शास्त्र किसी विषयवस्तु का होता है, और शास्त्र पर स्वयं चिन्तन होता है। नई समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, नई कोटियाँ उत्पन्न होती हैं, नए प्रश्न उपस्थित होते हैं और फिर उससे परम्परा बनती है। वह

परम्परा क्षेत्र की अपनी परम्परा है। हर क्षेत्र के विचारों की अपनी परम्परा है और एक विचार पर भी विचार होते रहने के बाद स्वयं नई परम्पराएँ उत्पन्न होती हैं। इन परम्पराओं के ऊपर हमारे यहाँ अढ़ाई-तीन हजार सालों से अन्वेषण चलता रहा है। यदि इसमें आप उपस्थित नहीं हैं तो इस देश के बौद्धिक चिन्तन में आप निमज्जित नहीं हैं। आप चाहे कितने ही गाने सुन लीजिए, चाहे कितने ही नृत्य देख लीजिए और चाहे कितने ही कहानियाँ या उपन्यास पढ़ लीजिए, चाहे अपनी भाषा में पढ़िये या किसी दूसरी भाषा में पढ़िये, किन्तु आप अपनी उस परम्परा को तब तक प्राप्त नहीं कर सकते जो परम्परा संस्कृति, सभ्यता कही जाती है। जब तक कि आप उसके जीवन्त भागीदार नहीं बनेंगे। भागीदार बनने का अर्थ क्या होता है? हमारे ऊपर एक ऋण है, जिससे हमें उऋण होना है। इस ऋण से उऋण होंगे। कहा गया है कि यदि आप पुत्र उत्पन्न करते हैं तो पिता के ऋण से उऋण होते हैं लेकिन इसमें एक दोष भी है—वह क्या है? यदि पुत्री उत्पन्न करेंगे तो उऋण क्यों नहीं होंगे? अगर उसे हम छोड़ भी दें तो गुरु-शिष्य की परम्परा की बात को देखें। गुरु से आपने कुछ पाया है तो आपका धर्म बनता है कि किसी दूसरे को आप विद्या का दान करें। ऐसे ही देवताओं के प्रति है। लेकिन इससे भी व्यापक दृष्टि यह है कि हमने किसी से कुछ पाया है तो हमारे ऊपर ऋण यह है कि उस ऋण को कैसे ब्याज सहित चुकाया जाए। आजकल 14-15 प्रतिशत ब्याज मिलता है लेकिन हमको अपने से पूछना चाहिए कि जो हमने ऋण परम्परा के द्वारा प्राप्त किया है उस पर हमने क्या 5 प्रतिशत ब्याज भी दिया है? जितना आपने किसी से पाया है, उस पर 5 प्रतिशत ब्याज भी नहीं दिया है इसलिए हम बेकार आदमी हैं। इसीलिए अढ़ाई सौ सालों से, अट्ठारहवीं शताब्दी के बाद से, हमारे चिन्तन ने, खास तौर से पश्चिमी परम्परा में पढ़े हुए विद्वानों ने हमारी संस्कृति में, परम्परा में क्या योगदान दिया है, उन्होंने उसका ऋण कैसे चुकाया है? 'ट्रांसलेशन' करके, अंग्रेज़ी अनुवाद करके, संग्रहालयों में संगृहीत करके, पाण्डुलिपियों की खोज में और कोष बनाने में? सब काम अंग्रेज़ी में ही हो रहे हैं—किसके लिए हो रहे हैं? यदि हमें उस ऋण से उऋण होना है तो उसके दो ही तरीके हैं—परम्परा को उसके वैविध्य में जानना। वह क्षेत्र-क्षेत्र में विभिन्न है। उसमें नए योगदान हो रहे हैं और उसकी भी मूलभूत कोटियाँ हैं। अगर पश्चिम की बात करें तो—Categories of thought हैं—लेकिन हमारे यहाँ विचार की वे 'कैटेगरीज' क्या हैं? जो किसी विचार को विचार का रूप देती हैं। उनका जब तक हमें पता नहीं लगेगा और जब तक वे सहज रूप में हमारे अपने सोचने की कोटियाँ नहीं बन जायेंगी तब तक हम केवल उनके बारे में बात करते रहेंगे। उनको अपनी बुद्धि का अनिवार्य अंग बनाकर उनके द्वारा विभिन्न विषयों पर और अपने अनुभव पर चिन्तन नहीं कर पायेंगे। वे कोटियाँ जब हमारे चिन्तन की कोटियाँ बन जायेंगी तभी हम नये प्रश्नों को जन्म दे सकेंगे। हम इन पर नये तरीके से सोचेंगे। हर क्षेत्र

में एक नये चिन्तन की संभावना उत्पन्न होगी जो पारम्परिक विचार से सम्बन्धित तो होगी, पर उससे बँधी हुआ नहीं।

इसी प्रकार का चिन्तन जागृत, जीवन्त और प्राणवान् होगा। हमारा यह उत्तरदायित्व है कि हम इसे सब दिशाओं में आगे बढ़ाएँ। परम्परा की दो दिशाएँ होती हैं—एक भूत और एक भविष्यत्। हमें भूत की ओर देखना चाहिए कि क्या हुआ, भविष्य की ओर देखना चाहिए कि किधर जाना चाहिए। अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो अपने उत्तरदायित्व को नहीं निभा रहे होंगे। मुझे अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि दिल्ली में सब विषयों के बारें में कौंसिलें बनी हुई हैं लेकिन वे अपने उत्तरदायित्व से बिल्कुल बेखबर प्रतीत होती हैं। आखिर राज्य तो पैसा ही दे सकता है, राज्य यह तो नहीं कह सकता कि किस दिशा में जाओ। दिशा हम बताते हैं। वे तो दिशाहीन लोग हैं।

अब दो बातें और। पहली यह कि चिन्तन के क्षेत्र में बुद्धि का स्थान क्या है, और बुद्धि का जगत् प्रत्ययों का जगत् होता है, जिसमें सारा जगत् प्रतिबिम्बित होता है। लेकिन यह प्रतिबिम्ब प्रत्ययों में होने के कारण उन प्रतिबिम्बों से भिन्न होते हैं जो हमें विभिन्न कलाओं में मिलते हैं। दूसरी ओर क्योंकि मनुष्य की बुद्धि एक आत्मचेतन प्राणी की बुद्धि है इसलिए वह स्वयं चिन्तन-प्रक्रिया को चिन्तन का विषय बनाती है और कुछ दूसरे स्तर के अन्य प्रत्ययों द्वारा इस सारी प्रथम स्तर की प्रत्यय-प्रक्रिया को पकड़ने की चेष्टा करती है।

आत्मचिन्तन की यही बौद्धिक प्रक्रिया है जिसमें चिन्तन स्वयं अपने को विषय रूप में देखता है, अनेकानेक रूप में देखता है, तब वह अपने को कैसे देखता है? कैसे आगे देखेगा? यह वास्तव में हमारी परम्परा का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है।

❑

भारत की बौद्धिक परम्पराएँ और उनका भविष्य

विचार का मूल बुद्धि है और बुद्धि के बारे में अगर हम परम्परागत में विचार करें तो उसका सात्विक, तामसिक और राजसिक रूप में विभाजन किया जा सकता है। यही नहीं, बुद्धि के और अनेक भेद किये जा सकते हैं। बुद्धि के सात्विक, राजसिक, तामसिक भेद अपने आप में अपूर्ण हैं, परन्तु प्रश्न यह था कि बुद्धि का जो प्रयोग है, वह अच्छे-बुरे रूप में कैसे होता है? अगर परम्परा से ही हम इसका उत्तर ढूँढ़ने की चेष्टा करें तो हम पाएंगे कि मनुष्य का कर्म वासना से परिचालित होता है। बुद्धि का कर्म से सम्बन्ध क्या है? देखिए, अपने यहाँ ज्ञान और कर्म के सम्बन्ध की बहुत चर्चा हुई है–क्यों हुई है, उसका दूसरा आयाम है लेकिन मैं इस समय केवल यह कहना चाहूँगा कि जहाँ तक अच्छे-बुरे के भेद का सवाल है, हालांकि वह संस्कृति में होता है लेकिन जैसे ही धर्मशास्त्रों की रचना होती है वहाँ अच्छे-बुरे का भेद भिन्न प्रकार से होने लगता है। जैसा कि मैंने कहा था कि जैसे ही शास्त्र की रचना होती है, वैसे ही देशी और मार्गों का भेद बनता है, इसी प्रकार अच्छे-बुरे का भेद भी एक नया रूप लेता है। कला के क्षेत्र में यह एक रूप लेता है और कर्म और विचार के क्षेत्र में दूसरा। समस्या के दो अलग-अलग पहलू हैं–एक का कर्म से सम्बन्ध है और दूसरे का बुद्धि से। दोनों क्षेत्रों की अपनी स्वतंत्रता है, स्वायत्तता है–पर प्रश्न यह है कि वे कैसे परिचालित होते हैं? और उनका एक दूसरे से क्या सम्बन्ध है। एक ओर वे यथार्थ से परिचालित होते हैं, दूसरी ओर मूल्य या आदर्शों या मानदण्डों से हमारी चेतना अधिकतर स्व-केन्द्रित है और वासना से परिचालित होती है। वासना के भी अनेक रूप हैं और अधिकतर यह वासना स्वार्थ-केन्द्रित होती है और इसीलिए बुद्धि का उपयोग मनुष्य स्वार्थ की सिद्धि के लिए ही करता है। इस सन्दर्भ में 'अनादि वासना' की बात भी की गई है पर वह इस प्रसंग में अवांतर ही है। यहाँ तो केवल यह समझने की बात है कि चेतना पर-केन्द्रित भी हो सकती है और परार्थ केन्द्रित भी और जब वह ऐसी होती है तब वह बुद्धि का उपयोग भी अन्य के हित के लिए करती है। इसी से 'कर्त्तव्यता' की भावना का जन्म होता है। इस तरह ध्यान से देखें तो आपके प्रश्न के अनेक आयाम हैं, लेकिन जहाँ तक बुद्धि और कर्म के सम्बन्ध का प्रश्न है, यही आयाम मूलभूत प्रश्न है। मैं समझता हूँ कि बुद्धि अगर निस्संग नहीं है तो वह जिस कर्म को जन्म देगी वह स्वार्थ केन्द्रित कर्म होगा। वास्तव में हम लोगों